वैदिक व्याख्यान माला - चतुर्थ व्याख्यान

श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति

और

सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घ आयु

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

स्वाध्याय-मण्डल, 'आनन्दाश्रम', किल्ला-पारडी, जि. सूरत

मूल्य छः आने

कर्मशक्ति और दीर्घायु

मनुष्यके अन्दर कर्म करनेकी शक्ति जन्मसे रहती है। छोटा बालक भी सतत प्रयत्नशील रहता है। इसी तरह छोटेसे छोटे क्रिमी भी मृत्युसे दूर भागता है। इससे सिद्ध होता है कि दीर्घ जीवन जीनेकी आकांक्षा जीवमात्रमें है। मनुष्यकी सर्वसाधारण आयु १२० वर्षोंकी है। इसमें ८ वर्ष बाल्यपन, और १२ वर्ष ज्ञानसंपादनके हैं और शेष १०० वर्ष पुरुषार्थके हैं। मनुष्यने इन १०० वर्षोंमें नाना प्रकारके श्रेष्ठ कर्म करने हैं। इसीका नाम 'शतक्रतु' बनना है।

दीर्घ जीवन और कर्मशक्ति मनुष्यके लिये अत्यंत आवश्यक है। इन दो आवश्यक बातोंका वेदमें किस तरह वर्णन है, वह विषय इस लेखमें बताया है। आशा है कि पुरुषार्थी मनुष्योंको इन दो सिद्धान्तों-से बडा लाभ होगा।

किला-पारडी (सूरत)
१।२।५२

लेखक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
अध्यक्ष—स्वाध्याय मण्डल

ॐ

वैदिक व्याख्यान माला ।
चतुर्थ व्याख्यान ।

श्रेष्ठतम कर्म करनेकी शक्ति

और

सौ वर्षोंकी पूर्ण दीर्घ आयु

मनुष्य जीवनका उद्देश्य

मनुष्य इस पृथिवीपर जन्म लेता है, उसका विशेष हेतु है। यह हेतु यह है कि इसके अन्दरकी अपूर्णता दूर हो और यह पूर्ण विकसित हो जाय। पूर्ण विकासका अर्थ पुरुषोंमें उत्तम पुरुष बनना, अथवा पुरुषोत्तम बनना। मनुष्य इस सिद्धिको प्राप्त करनेके लिये इस पृथिवीपर जन्म लेता है और जबतक यह पुरुषोत्तम नहीं बनता, तबतक इसको जन्म लेना अनिवार्य ही है। बारंबार जन्म लेकर, अनेक प्रकारके उच्च नीच अनुभव लेकर, उठता और गिरता हुआ, यह प्रगति करनेकी इच्छा करता है। और प्रगति करता भी है।

देवताका आदर्श

मनुष्यकी इस उन्नतिमें सहायता करनेके लिये वैदिक-धर्म सिद्ध है। वैदिक सूक्तोंमें अनेक देवताओंके वर्णन हैं। ये मनुष्यके सामने आदर्श रखे हैं। इन देवताओंके आदर्श सामने रखकर मनुष्य देवता सदृश वर्तन करता हुआ आगे बढ़ता है। उपासक मनुष्य (देवयन्) देवताके सदृश बननेका यत्न करे, देवताके गुण अपने जीवनमें ढाले, और देवताके सदृश गुणोंवाला बने। वेदमें अनेक देवताएं हैं। उनमें जो इसको अच्छा आदर्श है ऐसा प्रतीत हो जाय, वह आदर्श मनुष्य अपने सामने रखे। ऐसा प्रयत्न करनेवाला जो होता है उसको (देवयन्) 'देवताके सदृश बननेका प्रयत्न करनेवाला' कहते हैं।

जो नाम परमात्माके हैं वे सब नाम जीवात्माके भी हैं। परमात्मा परिपूर्ण है और जीवको परिपूर्ण बनना है। पर परिपूर्ण बननेकी सुप्तशक्ति इसमें है। जैसी अग्नि और चिनगारी है। चिनगारी तो अत्यंत अल्प होती है, पर वह सूखे घासपर गिरनेसे बडे दावानल बननेकी शक्ति अपने अन्दर रखती है। वैसा ही मनुष्यका आत्मा पूर्णता प्राप्त करके पूर्ण शक्तिसे विकसित हो सकता है। यही उसकी पूर्ण होनेकी सुप्तशक्ति है। इस जीवकी पूर्णताकी अवस्थाको 'ब्राह्मी' स्थिति कहते हैं। इस अवस्थापर प्रत्येक मनुष्यका अधिकार है, पर वह जीव इस अवस्थाको कब प्राप्त करेगा, इसका आज पता नहीं लग सकता।

आत्माकी कर्मशक्ति

आत्मा जीव है। आत्माका अर्थ (अतति) 'सतत प्रयत्न करनेवाला' है। 'अत् सातत्यगमने' इस धातुसे आत्मा पद सिद्ध होता है। 'सतत गमन, सतत प्रगति, सतत प्रयत्न करनेवाला जो है, वह आत्मा है। सतत प्रयत्न-शीलताका गुण आत्मामें है। अपनी परिपूर्ण उन्नति प्राप्त होनेतक प्रमाद न करते हुए सतत प्रयत्न करनेका गुण इस आत्मामें है। अखण्ड प्रयत्न करना, एक वार फंसनेपर पुनः पुनः यश मिलनेतक प्रयत्न करते रहना, यह आत्माका निज स्वभाव है।

अब आत्माके अन्य नामोंका थोडासा विचार करते हैं।–

ॐ क्रतो स्मर। कृतं स्मर।

वा० यजु० ४०।१५; काण्व ४०।१७; ईश० १७

'हे (क्रतो) कर्म करनेवाले जीवात्मन्! तू (कृतं स्मर) अपने किये कर्मोंका स्मरण कर, तथा (ॐ स्मर

परमेश्वरका स्मरण कर।' इस तरह जीवकी उन्नतिके लिये आदेश वेदमें दिया है। यहां किये हुए कर्मोंका स्मरण कर ऐसा कहा है। तथा इस जीवात्माका नाम 'क्रतु' कहा है। जिसका स्वभाव कर्म करनेका होता है, उसका नाम क्रतु होता है। यहां भी आत्माका स्वभाव 'कर्म करनेका है, यह बात इस पदसे स्पष्ट हो गयी है।

शतक्रतु इन्द्र

इसी तरह इन्द्रके नामोंमें 'शत-क्रतु' नाम सुप्रसिद्ध है। सौ वर्ष जीवित रहकर सौ क्रतु करनेवाला इन्द्र है। यह नाम इन्द्रकी स्वभावसे कर्मण्यता बता रहा है। इन्द्र नाम (इन्-द्र) 'शत्रुका विदारण करनेका पुरुषार्थ करनेवाला' यह अर्थ बता रहा है। इसमें कर्म करके विजय प्राप्त करनेका सामर्थ्य दीखता है। इन्द्र पद जैसा परमात्माका वाचक है, वैसा ही जीवात्माका भी वाचक है। इसी 'इन्द्र' से 'इन्द्रिय' पद 'इन्द्रकी शक्ति' के अर्थमें बना है। ये इन्द्रियाँ प्रत्येक मनुष्यके शरीरमें अनेक हैं। प्रत्येक इंद्रिय इन्द्रकी शक्ति है, इसलिये इन्द्रियोंके पीछे इन्द्रका होना स्वयं सिद्ध है। इससे भी इन्द्र पद जीवात्माका वाचक है, यह बात सिद्ध होती है। गीतामें भी—

अहं क्रतुः, अहं यज्ञः। गीता० ९।१६

'मैं क्रतु हूं, मैं यज्ञ हूं' ऐसा कहा है। प्रारंभमें यह परमात्माका वर्णन है, परंतु जीवात्मा भी ब्राह्मी अवस्थामें इस स्थितिको प्राप्त होता है, इसलिये यह भी क्रतु और यज्ञ है, अर्थात् इसका भी स्वरूप 'कर्म' है। जिसका स्वभाव कर्म करनेका है उसीको 'कर्म कर' ऐसी आज्ञा की जा सकती है। जिसका स्वभाव कर्म करनेका नहीं है, जो कर्म कर नहीं सकता, उसको कर्म करनेकी आज्ञा किस तरह की जा सकती है? सब धर्मशास्त्र जीवको सत्कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं, इसलिये सब धर्मशास्त्र जीवकी कर्मशक्तिको मानते हैं। इसलिये कहा है—

कर्मका तत्त्व

यज्ञो वै कर्म। श० ब्रा. १।१।२।१

पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेनेति। श० ब्रा. १४।६।२।१४

वीर्यं वै कर्म। श० ब्रा. ११।५।४।५

कर्माणि धियः। गो० पू० १।३२

यो वै कर्म करोति, स एव तस्योपचारं वेद। श० ब्रा० ६।५।४।१७

कृतं संपद्यते चरन्। ऐ० भा. ७।१५

"यज्ञ ही कर्म है, जो मनुष्यको करना चाहिये। पुण्य कर्म करनेसे मनुष्य पवित्र बनता है और पापकर्म करनेसे पापी बनता है। कर्म ही शक्ति है। बुद्धियां ही कर्मोंमें परिणत होती हैं। जो कर्म करता है वह उसका उपचार जानता है। कृतयुग कर्म करते रहनेसे बनता है।" यहां इन वचनोंमें कहा हुआ कर्मका तत्त्व बडा मननीय है।

(कर्म वै वीर्यं) कर्म ही बल पराक्रम अथवा सामर्थ्य है। यह सत्य है। आज भी जो उत्तम कर्म करता है, वह सामर्थ्यवान् बनता है। कर्म नहीं करता वह पीछे पडता जाता है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि, वह अपनी कर्म करनेकी शक्ति बढावे और दिन प्रतिदिन उत्तमसे उत्तम कर्म करता जाय। उसका प्रभाव बढता ही जायगा। मनुष्य (पुण्येन कर्मणा पुण्यो भवति) पवित्र कर्मसे पवित्र बनता है, श्रेष्ठ कर्म करनेसे श्रेष्ठ बनता है। और पापमय कर्म करनेसे पापी बनता है (पापेन पापः भवति) दुष्ट कर्म करनेसे दुष्ट बनता जाता है। जैसा कर्म करता है वैसा बनता है। जैसा कर्म करता है वैसे संस्कार उसपर होते हैं, जिससे वह वैसा बनता जाता है। इसलिये दक्षतासे कर्म करने चाहिये।

बुद्धि और कर्म

(कर्माणि धियः) कर्म बुद्धिरूप होते हैं और बुद्धियाँ कर्मरूप बनती है। जिसकी जैसी बुद्धि होती है, उससे वैसा कर्म बनता है। इसलिये वेदमें 'धी' का अर्थ 'बुद्धि और कर्म' दोनों हैं। उत्तम बुद्धिमान उत्तम कर्म करता है और उत्तम कर्म करनेवाला कर्म करनेके अभ्याससे उत्तम बुद्धिमान बन जाता है। इस तरह बुद्धि और कर्मका साहचर्य है यह जानकर मनुष्यने अपनी बुद्धि बढाकर प्रशस्त कर्म करनेकी शक्ति अपने अन्दर बढानी चाहिये।

कृतयुग निर्माण करना

अपने कर्मोंके द्वारा हमें यहां (चरन् कृतं संपद्यते) कृतयुग निर्माण करना चाहिये। सत्ययुग करना अथवा कलियुग निर्माण करना अपने कर्मोंके आधीन है। लोग

समझते हैं कि, यह कलियुग है। पर कलह, आपसमें झगडे, करनेवालोंके लिये वही कलियुग होता है और आपसकी संगठना, एकता, समता करनेवालोंके लिये वही कृतयुग होता है। हमने जो (कृतं) किया हुआ कर्म है, वह अच्छा कर्म हुआ, तो वही कृतयुग होता है, और उसमें दोष होने लगे, तो वही समय कलियुग होता है। यह सब अपने कर्मोंपर निर्भर है।

मनुष्यका स्वभाव कर्म करनेका है। मनुष्य प्रतिक्षण कुछ न कुछ कर्म करता ही रहता है। यही गीतामें कहा है–

न हि कश्चित् क्षणमपि।
जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। गीता० ३।५

'कोई मनुष्य कभी भी कर्म न करता हुआ रहता नहीं।' प्रतिक्षण कुछ न कुछ करता ही रहता है। क्योंकि मनुष्यका स्वभाव कर्म करनेका है। कोई कहेगा कि, मैंने सोकर समय बिताया, कुछ भी कर्म नहीं किया। पर वह भूलता है, वह उस समय सोकर रहनेका कर्म करता था। जिस अवस्थामें वह रहता है, उस अवस्थाका कर्म उससे होता रहता है। इसलिये यह सत्य है कि, कोई मनुष्य कर्म किये बिना रह नहीं सकता। क्योंकि शरीरका स्वभाव ही उससे कर्म कराता रहता है।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि सन्।
गीता० १८।६०

'अपने कर्मोंसे बने स्वभावसे बंधा हुआ तू जो नहीं करना चाहता है, वही अवश होकर करता है।' इतना स्वभावका बल है। मनुष्यका स्वभाव ही कर्म करनेका है। अतः मनुष्यसे कर्म होता ही रहेगा। कर्म करना या न करना मनुष्यके आधीन नहीं है, कुछ न कुछ कर्म तो उससे होता ही रहेगा। यदि कर्म होना ही है, तब तो मनुष्यको चाहिये कि, वह अच्छा ही कर्म करे। 'मैं कर्म नहीं करूंगा' यह मनुष्यका संकल्प कभी सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि यह संकल्प मनुष्यके स्वभाव धर्मके सर्वथा विरुद्ध है। मनुष्य इच्छासे करे अथवा मनुष्यसे निज स्वभावसे हो जाय, परंतु मनुष्यसे कर्म होता ही रहेगा। फिर वह अच्छा ही कर्म क्यों न करे? इसलिये कहा है कि—

कुशलतासे कर्म करो

योगस्थः कुरु कर्माणि ॥ ४० ॥
योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥ गीता० २

'योगका आश्रय करके कर्मोंको करता जा। कर्मोंके अन्दरकी जो कुशलता है, उसका नाम योग है।' अर्थात् कर्म करनेकी कुशलता प्राप्त कर और उत्तमसे उत्तम कुशलतापूर्वक उत्तमोत्तम कर्मोंको कर। कर्म करने हैं, तो उत्तम कुशलतासे ही करने चाहिये। ऐसे वैसे नहीं करने चाहिये। कर्ममें कुशल मनुष्य ही श्रेष्ठ समझा जाता है। कुशलतासे हीन मनुष्य कभी श्रेष्ठ नहीं होता।

यहां तक यह सिद्ध हुआ कि, मनुष्यको कर्म तो करने ही चाहिये और वे कुशलतापूर्वक करने चाहिये। वेद कहता है–

श्रेष्ठतम कर्म करो

देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे,
आप्यायध्वं,० अनमीवा अयक्ष्माः, मा वः
स्तेन ईशत, माऽघशंसः॥ वा०य०, काण्व यजु.१।१

'सविता देव आपको श्रेष्ठतम कर्म करनेके लिये प्रेरणा करे। इन कर्मोंको करके आप उन्नतिको प्राप्त हो जाओ, आप नीरोग हो जाओ, तथा यक्ष्मरोगसे दूर रहो। आप पर चोर तथा पापीका राज्यशासन न हो।' यह वेदका उपदेश कितना महत्त्वका है। यह उपदेश मनन करने योग्य है और सदा स्मरण करने योग्य है।

श्रेष्ठतम कर्म- सबको करना चाहिये। अपनी अभिवृद्धि होगी ऐसे ही कर्म करने चाहिये। नीरोगिता बढानी चाहिये। तथा अपने ऊपर चोर और पापीका शासन न हो, ऐसा अपनी सुरक्षाका प्रबंध करना चाहिये। यह सब श्रेष्ठतम कर्म ही हैं।

१ आप्यायनं — अभ्युदय साधक कर्म,
२ अनमीवत्वं — नीरोगिताकी स्थापना,
३ अयक्ष्मत्वं— क्षयरोगसे दूर रहना,
४ स्तेनशासनदूरीकरणं— चोरका शासन दूर करना, अथवा न मानना और
५ अघशंसशासनविनाशनं— पापीके शासनको दूर करना।

ये श्रेष्ठतम कर्मोंमेंसे थोडेसे कर्म यहां गिनाये हैं। 'आप्यायन'-- तो वैयक्तिक भी हो सकता है और सार्वजनिक भी हो सकता है। एक व्यक्तिकी उन्नति और सार्वजनिक जनसमूहकी उन्नति करनेमें व्यक्ति और समाज-का कल्याण है। 'अनमीवत्वं अयक्ष्मत्वं'— यह वस्तुतः सार्वजनिक आरोग्य रक्षणसे ही सिद्ध होनेवाला है। ग्रामकी आरोग्य व्यवस्था अच्छी रही, तो व्यक्ति अपने प्रयत्नसे अपना आरोग्य रख सकता है। पर ग्रामका ग्राम ही रोगी रहा, जलवायु खराब रहे तो व्यक्ति अनेक प्रयत्न करनेपर भी अपना आरोग्य संभालनेमें असमर्थ ही रहेगा। अर्थात् यह आरोग्य रक्षणका कार्य सार्वजनिक कार्य है। 'स्तेनशासन तथा अधशंसशासन को दूर करना' ये कार्य तो सार्वजनिक तथा राजकीय हलचलसे ही होने-वाले हैं। ये वैयक्तिक कार्य हैं नहीं। अर्थात् यहां वेदने जो प्रशस्ततम कर्म गिनाये हैं, उनमें वैयक्तिक, सामूहिक, सार्वजनिक तथा राजकीय कर्मोंका समावेश है, यह बात यहां पाठकोंको अवश्य स्मरण रखनी चाहिये। अपना वैदिक धर्म व्यक्तिकी, समाजकी और राष्ट्रकी उन्नति करनेके आदेश देता है, यह बात यहां स्पष्ट हो गयी है।

कर्मका विचार

अब प्रशस्ततम कर्मका विचार करना है।

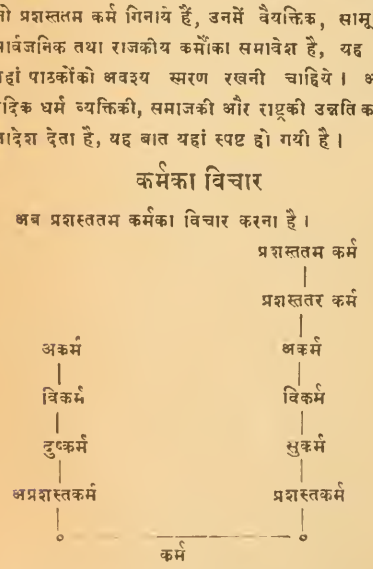

कर्मके दो विभाग हैं, एक सुकर्म और दूसरा दुष्कर्म। सुकर्मका नाम प्रशस्तकर्म है और दुष्कर्मको ही अप्रशस्त कर्म कहते हैं। जो प्रशंसा योग्य सर्वजन हितकारी कर्म है। वह प्रशस्त है और जो निंदाके योग्य सर्वजनहितका नाश करनेवाला कार्य है, वह अप्रस्तकर्म है। यह नहीं करना चाहिये।

विकर्मका विचार

'विकर्म' भी दो प्रकारके हैं। एक विरुद्ध कर्म अर्थात् व्यक्ति तथा समाजके हितका बिगाड करनेवाला दुष्कर्म और दूसरा विशेष अवस्थामें विशेष रीतिसे विशेष उपयोगी अतः व्यक्ति तथा समाजका विशेष हित करनेवाला जो होता है वह भी 'वि-कर्म' कहलाता है। अर्थात् विरुद्ध कर्म करना नहीं चाहिये, परंतु विशेष हितकारी कर्म करना चाहिये।

अकर्मका विचार

'अकर्म' भी दो प्रकारके हैं। एक वह कि जो करने योग्य नहीं वह नहीं करना चाहिये। परंतु दूसरा अकर्म वह है कि जो व्यक्तिके ही केवल हित करनेवाले हैं जैसे स्नान, भोजन व्यायाम, स्वकीय संरक्षण, पोषण आदि जो केवल एक व्यक्तिके अस्तित्वके लिये आवश्यक होते हैं, परंतु जो सार्वजनिक हित नहीं करते, वे अकर्म हैं। ये अकर्म व्यक्तिको अपने अस्तित्वके लिये अवश्य ही करने चाहिये, परंतु सार्वजनिक दृष्टिसे इनका कुछ विशेष महत्त्व नहीं होता। इसलिये सार्वजनिक दृष्टिसे ये करनेपर भी न करनेके समान होते हैं, इसलिये ये अकर्म समझे गये हैं। परंतु व्यक्तिको अपने अस्तित्वको सुरक्षित रखनेके लिये ये करने ही चाहिये।

अकर्मका दूसरा एक विभाग है जो विशेष महत्त्वका है। जो कर्म करनेपर भी बाधक नहीं होते, दोष उत्पन्न नहीं करते, कर्म करनेपर भी कर्ता निर्दोष रहता है, कर्म न करनेपर जैसा रहता है, वैसा ही करनेपर भी अलिप्त रहता है, वे कर्म अकर्म कहलाते हैं। जिस तरह वर्णाश्रम धर्मा-नुकूल कर्म हैं, जो केवल जनताके उपकारके लिये किये जाते हैं। जैसे सैनिक सेनापतिकी आज्ञानुसार कार्य करते हैं, जो स्वयंसेवक केवल सेवाभावसे ही कर्म करते हैं। ऐसे कर्म कर्ताको बाधक नहीं होते, अतः ये अकर्म हैं। ये अकर्म बडे उपयोगी होते हैं। 'कृत्वापि न निबध्यते।' 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' (गीता) कर्म करनेपर भी बाधा नहीं होती, कर्ता अलिप्त रह जाता है ऐसा जो

गीतामें कहा है तथा नैष्कर्म्य सिद्धिका जो वर्णन गीतामें है, वे सब इस प्रकारके 'अकर्म' के वर्णन हैं। गीताके ये दो पद 'विकर्म' और 'अकर्म' दो दो अर्थवाले होनेके कारण पाठकोंके लिये समझनेके लिये कठिन हैं और संदेह भी उत्पन्न करनेवाले हैं। अस्तु इन शब्दोंमें जिनका अर्थ उत्तम है, वे तो कर्म करने ही चाहिये, परंतु जिनका अर्थ खराब है, वे कर्म करने नहीं चाहिये।

प्रशस्ततमकर्म

अब प्रशस्तकर्मका विचार करते हैं। प्रशंसा योग्य जो कर्म हैं, वेही करने चाहिये। वेदने तो 'प्रशस्ततम, श्रेष्ठतम कर्म करने चाहिये' ऐसा कहा है। जो प्रशंसा योग्य कर्म हैं वेही श्रेष्ठ कर्म हैं। 'श्रेष्ठतम कर्म' करनेका आदेश वेद दे रहा है। अर्थात् 'श्रेष्ठ कर्म, श्रेष्ठतर कर्म और श्रेष्ठतम कर्म' ऐसी श्रेष्ठ कर्मोंमें भी तीन श्रेणियां हैं। उनमें सबसे श्रेष्ठ कर्म करने चाहिये यह वेदका कहना है।

सविता देवः श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु।

वा. य. १।१

सविता देव मनुष्यको कर्मोंकी प्रेरणा करता है, वह श्रेष्ठतम कर्मकी प्रेरणा करे। यह इस मंत्रका आदेश है। अर्थात् मनुष्य कर्म करेगा, तो वह श्रेष्ठसे श्रेष्ठ कर्म करनेका यत्न करे। यहां 'कर्म, अकर्म और विकर्म' ये कर्मके मुख्य तीन विभाग इससे पूर्व कहे गये हैं। व्यक्तिका जीवन निर्वाह करनेके लिये जो स्नान-भोजन-निद्रा आदि आवश्यक हैं, वे अकर्म हैं। ये करने ही चाहिये। ये न किये तो व्यक्ति नाशको प्राप्त होगी। पर इनके करनेसे सार्वजनिक महत्त्व कुछ भी नहीं है। इसलिये ये करनेपर भी न करनेके समान ही हैं। दूसरा विभाग विकर्मोंका है। ये विरुद्ध कर्म हैं। ये व्यक्ति और समाजका घात करनेवाले हैं। ये हानिकारक होनेसे ये किसीको करने योग्य नहीं है। जैसे ब्रह्मचर्याश्रममें व्यभिचार, गृहस्थाश्रममें दुराचार, अयोग्य आचार, समाजघातक कर्म आदि ये विरुद्ध कर्म किसीको कदापि नहीं करने चाहिये।

सर्वजन हितकारी कर्म

अब शेष रहा 'कर्म'। यह कर्म वह है कि जो समाज, जाति तथा राष्ट्रका हित करनेवाला है। जिससे सब जनोंका कल्याण होता है। इसको यज्ञ कहते हैं। जिस कर्मसे सज्जनोंका सत्कार, समानोंकी संगठना और दीनोंका उद्धार होता है। वह यज्ञ है। सार्वजनिक कल्याणके कर्म तो सबको अवश्य करने चाहिये। यह 'श्रेष्ठतम कर्म' होने योग्य रीतिसे करने चाहिये यह इसका तात्पर्य है। अर्थात् अधिकसे अधिक सत्पुरुषोंका उत्तम रीतिसे सत्कार (देव पूजा) हो, सब जनोंका संगठन (संगतिकरण) हो, आपसका वैर दूर हो जाय, आपसकी फूट दूर होकर सबका संगठन तथा ऐक्य हो जाय, और (दान) दीनोंकी दीनता दूर करनेके लिये उनको योग्य सहायता प्राप्त हो जाय। मनुष्योंमें ज्ञान, वीरता, धन और कर्मप्राविण्य की निर्बलता रहती है। वह दूर हो जाय और मनुष्य पूर्णतासे दैन्यरहित हो जांय। ऐसे प्रयत्न करने चाहिये। इसका नाम श्रेष्ठतम कर्म है। ऐसे श्रेष्ठ कर्म करने चाहिये।

मनुष्यका स्वभाव कर्म करनेका है, इसीलिये उसको अत्यंत श्रेष्ठ कर्म करने चाहिये। ऐसा वह न करेगा, तो उससे तो कर्म होते ही रहेंगे, और उनका परिणाम उनको भोगना ही पडेगा। इसलिये मनुष्य अपनी ओरसे अधिक दक्षतापूर्वक प्रयत्न करके अत्यंत श्रेष्ठ कर्म करनेका यत्न करे। इसमें मनुष्यसे भूल न हो।

कुर्वन् एव इह कर्माणि।
जिजीविषेत् शतं समाः। वा० य० ४०२

'यहां कर्मोंको करते हुए ही सौ वर्ष जीवित रहनेकी इच्छा करनी चाहिये।' ऐसा वेद कहता है। 'यहां इस जगत्में अच्छेसे अच्छे कर्म करते रहो और सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करो। यहांका 'कर्माणि' पद 'श्रेष्ठतम कर्म' का वाचक है। अर्थात अधिकसे अधिक श्रेष्ठ कर्म करते हुए, यहां सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करनी चाहिये।

सौ वर्षकी आयु

यहां 'शतं समाः जिजीविषेत्' ऐसी वेदकी आज्ञा है। सौ वर्ष जीनेकी इच्छा मनुष्य किस समय कर सकता है? इसका विचार सबको करना चाहिये। 'जिजीविषा' अधिक या कम मेरी आयु हो यह इच्छा बालपनमें नहीं हो सकती, कुमारपनमें भी नहीं हो सकती। जिस समय

मनुष्य पूर्ण तरुण होता है, विद्यास्नातक होता है, भले बुरेका ज्ञान उसको होता है, उस समय वह अपनी स्वतंत्र प्रतिभासे इच्छा कर सकता है। यह विद्यास्नातक होनेका समय २० वे वर्ष आता है। बालपनके ८ वर्ष, विद्याध्ययन के १२ वर्ष मिलकर २० वर्ष होते हैं। वीसवें वर्ष वह विद्यास्नातक होता है, इस समय अथवा इसके पश्चात् वह अपनी स्वतंत्र प्रतिभासे अपनी इच्छा प्रकट कर सकता है, वह इच्छा यह है—

पश्येम शरदः शतम्।
जीवेम शरदः शतम्।
शृणुयाम शरदः शतम्।
प्रब्रवाम शरदः शतम्।
अदीनाः स्याम शरदः शतम्।
भूयश्च शरदः शतात्॥ वा० य० ३६।२४
पूषेम शरदः शतम्।
रोहेम शरदः शतम्।
भवेम शरदः शतम्।

यहां 'जिजीविषेत्' यह जीवन क्रिया है। दीर्घ जीवनकी इच्छा है। यह इच्छा २० वर्षका पूर्ण तरुण मनुष्य ही कर सकता है। इसलिये २० वें वर्ष १०० वर्ष जीनेकी इच्छा की, तो मृत्युके समयकी इसकी आयु १२० वर्षोंकी होती है। ज्योतिष शास्त्रने इसी कारणके लिये विंशोत्तरी गणित किया है। 'विंशति-उत्तर-शतं' यह १२० वर्षोंकी आयु है अर्थात् १२० वर्षोंकी मनुष्यकी आयु है। दूसरे गणिती लोग 'अष्टोत्तरी' गणित करते हैं, उनके मतसे १०८ वर्षकी आयु होती है। पर १२० वर्षोंकी मानवी आयु मानना युक्ति युक्त है। ८ वर्ष बालपनके १२ वर्ष विद्या अध्ययनके, और १०० वर्ष पुरुषार्थके जीनेके मिलकर १२० वर्ष हुए। अपनी स्वतंत्र इच्छा मनुष्य उस समय करता है कि जिस समय वह पूर्ण स्वतंत्र होता है और मनुष्य विद्या अध्ययन समाप्त करके ही स्वतंत्र प्रतिभावान् होता है। इसलिये 'जिजीविषा' (जीनेकी इच्छा) वीसवें वर्ष, जिस समय वह पूर्ण विद्वान् होता है, उस समय की जा सकती है। वीसवें वर्षके पश्चात् मनुष्य शतायु होनेकी इच्छा कर सकता है और अपनी प्रयत्नपूर्वक इच्छासे उतनी आयु वह प्राप्त करता है।

जीवन गण

जिजीविषा (जीनेकी इच्छा) यह जीवनगणका विषय है। मनुष्यको २० वर्षके पश्चात् सौ वर्ष जीवित रहना है, बीचमें ही मरना नहीं। परंतु यह जीवन केवल कृमिकीट जैसा जीना नहीं है। कौआ भी सौ वर्ष जीवित रहता है और अपने जीवनमें कुछ भी करता नहीं है। वैसा मनुष्य जीवे तो लाभ क्या है? इसलिये यह जीवन गण सूचित करता है कि मनुष्यको अपने जीवनमें क्या करना चाहिये-

जीवगणके विषय

इस जीवनीय गणमें जो गिनना चाहिये, जिससे मनुष्यका जीवन सार्थ होता है, वह इन जीवनगणके मंत्रोंमें कहा गया है। (जीवेम) हम जीवेंगे, (भवेम) हम प्रभावी बनेंगे, (रोहेम) हम बढते रहेंगे, (पूषेम) हम हृष्ट पुष्ट होते रहेंगे, (पश्येम) हम देखते रहेंगे, (शृणुयाम) हम उपदेश सुनते रहेंगे, ज्ञान प्राप्त करते रहेंगे, (प्रब्रवाम) हम उपदेश करते रहेंगे, हम लोगोंको सन्मार्ग बताते रहेंगे, (अदीनाः स्याम) हम दीन दुर्बल नहीं होंगे और ये ही कार्य हम (भूयः शरदः शतात्) सौ वर्षसे भी अधिक जीवित रहकर करते रहेंगे। ये जीवनमें करनेके मुख्य कार्य हैं। जिससे मनुष्य जीवन सफल और सुफल हो सकता है वे ये कार्य हैं। इनका थोडासा अधिक स्पष्टीकरण यहां करना आवश्यक है।

(जीवेम) हम जीवेंगे, नीरोग तथा कार्यक्षम स्फूर्तियुक्त जीवन जीवेंगे, (भवेम) हम अपने जीवनसे विश्वपर प्रभाव डालेंगे, जिससे लोग कहेंगे कि, यह मनुष्य सचमुच जीवित था, जिससे उसके जीवनसे यह प्रभाव जनतापर हुआ, (रोहेम) हम बढते जांयगे, कभी निर्बल, निर्वीर्य, निस्तेज क्षीण नहीं बनेंगे, (पूषेम) हम हृष्ट पुष्ट, प्रसन्नचित्त, समर्थ, प्रभावी, वीर और बलवान हो जांयगे, (पश्येम) हम चारों ओर निरीक्षण करेंगे, कि कौन हमारे मित्र हैं और कौन हमारे शत्रु हैं, हमें भय कहांसे है और किस दिशामें हमें भय नहीं है। इसका हम निरीक्षण, परीक्षण और समीक्षण करेंगे, हम अन्धे जैसे नहीं रहेंगे, चारों दिशाओंमें हम निरीक्षण करेंगे और जानेंगे कि भय कहां है और हमारे सहायक कहां हैं। (शृणुयाम)

हम सुनेंगे, अर्थात् ज्ञानवृद्ध उपदेश करनेवालोंसे हम उपदेश सुनेंगे और उस उपदेशको हम अपनायेंगे, आत्म सात् करेंगे, अपने जीवनमें ढालेंगे, इस तरह ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् हम उस ज्ञानको अपने अन्दर बंद ही नहीं रखेंगे, परंतु हम (प्रब्रवाम) उपदेश करेंगे और दूसरोंको भी ज्ञान विज्ञान संपन्न करते रहेंगे, जो ज्ञान हमें प्राप्त हुआ होगा, वह हम दूसरोंको देंगे। इस तरह ज्ञान प्रसार करनेमें हम अपना जीवन लगा देंगे। यह सब हमें करना है, इसलिये हमें (अदीनाः स्याम) दीन, निर्बल, दुर्बल परावलंबी होना उचित नहीं है। निर्बलता रहनेसे हमारेसे कुछ भी कार्य नहीं हो सकेगा। इसलिये हम अदीन होकर उत्साहसे कार्य करते जायंगे। हम समर्थ और प्रभावी बन जायंगे। (भूयः शरदः शतात्) सौ वर्षसे भी अधिक दीर्घआयु हम अपने प्रयत्नसे प्राप्त करेंगे और उस अति-दीर्घआयुमें भी हम येही कार्य करते रहेंगे। हम अपनी आयु आलस्यमें कभी नहीं दौडायेंगे। जीवन गणके ये कार्य हैं। सबको यह जीवन गण जानना चाहिये और इसका मनन अच्छी तरह करना चाहिये। (जीवेम) जीयेंगे इसके साथ ये कर्तव्य करने चाहिये।

इससे पूर्व बताया है कि (आप्यायन) अपना अभ्युदय प्राप्त करना, (अनमीवत्व) नीरोगिताका संरक्षण करना और (स्तेनशासननाशं) चोरके राज्यशासनको नष्ट करना अर्थात् श्रेष्ठ सज्जनोंका राज्यशासन स्थापित करना, ये कार्य करने योग्य हैं। इनके साथ ये जीवनगणके कर्तव्य मिलाइये। यहां दीर्घआयु प्राप्त करना, उस आयुमें ज्ञान प्राप्त करना, ज्ञानका प्राचार करना, जीवन प्रभावी करना, दीन न बनना और सौ वर्षोंसे भी अधिक दीर्घ जीवन प्राप्त करना, ये तथा इस प्रकारके कर्तव्य करनेके लिये वेदने प्रस्तुत किये हैं। यह एक जीवनका उत्तम फलदायी कार्य-क्रम है, जिसके करनेसे मनुष्यको इसी जीवनमें सुख तथा आनन्द प्राप्त हो सकता है।

सौ वर्ष कर्म करो

'कर्म करते हुए सौ वर्षका दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना चाहिये' इसका मनन हमने यहांतक किया और इससे यह बोध प्राप्त हुआ। इस मन्त्रके साथ इसका उत्तरार्ध अब देखिये-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि ।
जिजीविषेच्छतं समाः ॥
एवं त्वयि, नान्यथेतोऽस्ति ।
न कर्म लिप्यते नरे ॥ वा० य० ४०।२

'यहां श्रेष्ठतम कर्मोंको करते रहो, सौ वर्षोंका दीर्घ जीवन जीवूंगा ऐसी इच्छा धारण करो, यह सन्मार्ग तेरे मनमें स्थिर रहे, इससे भिन्न दूसरा मार्ग नहीं है, नरके लिये कर्मोंका लेप नहीं लगता।' यह संपूर्ण मंत्र है। जीवनभर प्रशंसा योग्य अत्यंत श्रेष्ठ कर्मोंको करो, सौ वर्षका पूर्ण दीर्घजीवन जीनेकी इच्छा करो, क्षणभंगुरवादको छोड दो, दो दिनकी दुनिया ऐसे निराशामय विचार मनमें धारण न करो, प्रत्युत मैं सौ वर्ष तो जीवूंगा ही, परंतु सौ वर्षोंसे भी अधिक दीर्घजीवन धारण करूंगा और उसमें अत्यंत श्रेष्ठ कर्म करता रहूंगा ऐसा उत्साही विचार मनमें सदा रखो। ये ही उत्साही विचार तुम्हारे मनमें रखो, तथा इससे भिन्न मनुष्योंके लिये आचरने योग्य कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं, यह ध्यानमें रखो और शुभकर्म, श्रेष्ठतम कर्म करनेसे मनुष्यको कर्मोंका लेप नहीं लग सकता, यह भी ध्यानमें रखो। सभी कर्म कर्ताको दोषोंसे लिप्त करते हैं ऐसा कुविचार मनमें न रखो। परंतु श्रेष्ठ सत्कर्म कर्ताको कभी दोष नहीं लगाते, ऐसा पक्का निश्चय मनमें रखो और श्रेष्ठ सत्कर्म सदा करते रहो। यही अपनी तथा सबकी अभिवृद्धि करनेका एकमात्र उत्तम मार्ग है।

मनका निश्चय करो

श्रेष्ठतम कर्मोंको करते हुए सौ वर्ष जीवित रहनेकी इच्छा करना, यही एक उन्नतिका मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग नहीं, ऐसा मनुष्यका निश्चय होना चाहिये। इसके विरुद्ध उन्नतिके अनेक मार्ग हैं, सब मार्ग उस प्राप्तव्य स्थानको पहुंचते हैं, किसी मार्गसे जाओ, जानेवाला अन्तमें वहीं पहुंचेगा। ऐसा कुविचार कई लोग मनमें धरते हैं। इससे किसी एक मार्गपर अटल श्रद्धा नहीं बैठती, इस कारण ऐसा मनुष्य यह थोडा, वह थोडा ऐसा करता रहता है। किसी मार्गका उत्तम आचरण उससे नहीं होता। इस कारण उसके सभी कार्य अधूरे रहते हैं और एक भी सिद्धि उसको प्राप्त नहीं होती। इसलिये इस मंत्रमें कहा है कि (एवं त्वयि) इस नियमको तुम अपने हृदयमें धारण

करो, 'श्रेष्ठतम कर्मोंको करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा धारण करना' यह सुवर्ण नियम है। इसपर पूर्ण श्रद्धा रखो, इसको हृदयमें स्थायी स्थान दो। अपने द्वारा श्रेष्ठतम कर्म हो रहा है वा नहीं यही केवल तुमको देखना है। और ऐसे उत्तम कर्म करते हुए दीर्घजीवन प्राप्त करनेका यत्न करना। यह एक ही नियम है कि जो मानवोंका तारक है। (इतः अन्यथा नास्ति) इस नियमके सिवाय दूसरा कोई साधन मानवी उद्धारके लिये नहीं है। ऐसा पूर्ण विश्वास मनुष्यमें स्थिर होना चाहिये।

नरको दोष नहीं लगता

इसी तरह (नरे कर्म न लिप्यते) नरको ऐसे श्रेष्ठतम कर्मका लेप नहीं लगता। यह भी नियम सदा ध्यानमें धारण करने योग्य है। इस मंत्र भागके शब्द विशेष मनन करने योग्य हैं। यहां 'नर' को कर्मका लेप नहीं होता ऐसा कहा है, 'जन, लोक, मनुष्य, मानव' के लिये कर्मका लेप नहीं होता, ऐसा नहीं कहा है। इस कथनमें यह विशेषता है। 'नर' वह है कि जो 'न रमते' जो भोगों और विलासोंमें रमता नहीं। प्रत्येक पुरुष नर नहीं कहलाता। जो भोगवृत्तिसे दूर है, जो भोगोंमें फंसा नहीं है वही 'नर' है। ऐसा 'नर' कर्मसे, कर्म करनेपर भी, अलिप्त रहता है।

जन, लोक, मनुष्य और नर

संस्कृतमें मनुष्यवाचक अनेक शब्द हैं। उनमेंसे कुछ शब्दोंका यहां विचार करते हैं। (१) 'जन' वे हैं कि जो प्रजनन करते हैं, अपने जैसे द्विपाद प्राणी निर्माण करते हैं। प्रजनन-प्रजाकी उत्पत्ति-करनेकी अपेक्षा दूसरा कुछ भी कार्य ये नहीं कर सकते। पशुपक्षी भी अपने जैसी संतान निर्माण करते हैं। वैसी ही संतति मनुष्यने उत्पन्न की, तो उसकी विशेषता तो क्या रही? इसलिये 'जन' शब्द से नीचली श्रेणीके मानवोंका बोध होता है।

इससे थोडा ऊपर उसका दर्जा है कि जो (२) 'लोक' कहलाता है। 'लोक-दर्शने,' जो देखता है, क्या चल रहा है इसका जो निरीक्षण करता है, जो सचमुच देख सकता है, वही लोक है। केवल प्रजनन करनेवालेकी अपेक्षासे जो चारों ओर क्या चल रहा है, उसका निरीक्षण कर सकता है, वह सचमुच 'जन' से अधिक उच्च श्रेणीका मानव हो सकता है।

इसके ऊपर जब हम चढेंगे, और हम देखेंगे, तो हमारे सामने (३) 'मनुष्य' पद आयेगा। 'मननात् मनुष्यः' जो मनन करता है, वह मनुष्य है। अपने जैसे प्राणीको उत्पन्न करनेसे तथा केवल देखनेसे, केवल निरीक्षणकी शक्तिसे, मनन करनेकी शक्ति अधिक श्रेष्ठ है। इसलिये मनुष्य पद श्रेष्ठत्वका द्योतक है। 'मनुष्यत्व' इस मनन करनेकी शक्तिमें है। जितनी मनुष्यकी मनन शक्ति विशेष होती है, उतनी उसकी योग्यता श्रेष्ठ समझी जाती है। मनन शक्तिके कारण ही मनुष्यको 'मनुष्य' कहते हैं।

मनुष्योंमें 'नर' होते हैं, जो भोगोंमें लिप्त नहीं होते, जो कर्तव्य तत्पर रहते हैं। ये ही श्रेष्ठतम कर्म कर सकते हैं। सर्वजन हितकारी कर्म येही कर सकते हैं। और इनको ही 'न कर्म लिप्यते नरे' (नरको कर्मोंका लेप नहीं लगता) ऐसा कहा है। 'नर करणी करे तो नरका नारायण हो जाय' यह जो कहावत है, वह 'नर' के लिये ही है। नर श्रेष्ठ मनुष्योंका वाचक पद है। वे श्रेष्ठतम कर्म करते हैं और भोगोंमें न फंसनेके कारण कर्मफलसे सदा अलिप्त रहते हैं। वेद कहता है कि ऐसे नरको कर्मका लेप नहीं लगता। परंतु अन्य सर्व साधारण जनोंको उनके किये कर्मोंका लेप नहीं लगता, ऐसा तो वेदका कथन नहीं है। प्रथम मनुष्य 'नर' बने और अत्यंत श्रेष्ठ कर्म सर्वजनहित साधन करनेके लिये करे और कहे कि मैं इस कर्मके लेपसे अलिप्त हूं। निःसंदेह वह निर्लेप रहेगा।

यहां कर्म करो

मन्त्रमें 'कुर्वन् एव इह कर्माणि' ऐसा कहा है। इस मन्त्र भागमें 'इह' पद है। यहां इस भूलोकके ऊपर रहकर कर्मोंको करना चाहिये। इस भूलोकको 'कर्म लोक' कहते हैं। कर्म करनेका यही भूलोक है। मानवी शरीर भी कर्मका साधन है, मानवको वेदने 'क्रतु' कहा है। यह सौ वर्ष जीवित रहकर प्रति वर्ष एक एक क्रतु करता है। इसलिये इस साधकका नाम 'शतक्रतु' है। ये सब पद कर्म करनेवालेके वाचक हैं। यहां इस लोकके मनुष्य कर्म करें और अपना सुधार करें। इस लोकमें सब प्रकारके

स्वर्गीय सुख प्राप्त करना मनुष्यकी कर्म शक्तिपर निर्भर है। कर्मोंको यहां ही इस लोकमें करना चाहिये। 'कुर्वन् एव' यहां कर्म ही करने चाहिये, सतत कर्मण्यता मनुष्यमें रहनी चाहिये। कर्मोंको किये विना यहां शुभ गति मनुष्यको मिलनी नहीं है।

कर्मत्याग असंभव है।

जो तो कहते हैं कि, कर्मका त्याग करना चाहिये वह तो वेदमें किसी जगह नहीं कहा है। कर्मत्याग मनुष्यके लिये असंभव है। इस लोकमें तथा मनुष्य शरीर रहनेतक कर्मत्याग असंभव है। मनुष्य शरीरका स्वभावही कर्म करना है। फिर इस शरीरके रहते हुए कर्मत्याग किस तरह हो सकता है? इसलिये मन्त्रमें कहा है कि 'इह कर्माणि कुर्वन् एव' यहां कर्मोंको करते हुए ही जीनेकी इच्छा करनी चाहिये। कर्मोंका त्याग करके जीनेकी इच्छा धारण नहीं करनी है, क्योंकि संपूर्ण कर्मत्यागकाही अर्थ मृत्यु है। संपूर्ण कर्मत्याग मनुष्यके लिये असंभव है। इसलिये 'इस जगत्' में जीवित रहना है, तो उत्तमोत्तम कर्मोंको करते हुए ही जीवित रहनेकी इच्छा करनी चाहिये।

मनुष्यकी आयु, निश्चित या अनिश्चित?

यहां एक शंका आ सकती है वह यह कि मनुष्यकी आयु परमेश्वरने निश्चित की हुई होती है, वा निश्चित नहीं होती? यदि नियत आयु है, तो 'शतं समाः जिजीविषेत्' सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करनी चाहिये, अथवा 'भूयः च शरदः शतात्' 'भूयसीः शरदः शतात्' सौ वर्षोंसे भी अधिक आयु प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये, इसका अर्थ क्या है? यदि आयु नियत है, तब तो इन वेदाज्ञाओंका कुछ भी अर्थ नहीं है। परंतु यदि इन वेदाज्ञाओंमें कुछ न कुछ अर्थ है, तब तो मनुष्य अपनी आयु निःसंदेह बढा सकता है और मनुष्यको ऐसे कर्म करने चाहिये कि, जिनसे मनुष्यकी आयु बढती जाय। अतः इस शंकाका निराकरण करना चाहिये कि मनुष्यकी आयु नियत है वा अनियत?

आज कल लोग मानते हैं कि मनुष्यकी आयु जन्मके समयमेंही निश्चित हुई होती है, उसमें भी नाना प्रकारके रोग हैं, अपमृत्यु है, अपघात हैं। ये मनुष्यकी आयुका नाश करते हैं। इस मृत्युलोकका जीवन क्षणभंगुर अशाश्वत और दुःखपूर्ण है। यह निराशावादी तत्त्वज्ञान बुद्ध संप्रदायके प्रारंभसे इस भूमिमें प्रचलित हुआ है। इस भूमिपरके मानवी जीवनका इस बुद्धके संप्रदायने सत्यानाश किया है। यहां रोग हैं, अपमृत्यु हैं यह सच है। परंतु मनुष्य इनपर उपाय करके अपनेको नीरोग रख सकता है और अपनी आयु बढा सकता है। यह वेदका सिद्धान्त है, इसीलिये 'भूयश्च शरदः शतात्' सौ वर्षोंसे भी अधिक जीनेकी इच्छा धारण करो, ऐसा वेदने कहा है। सौ वर्ष या अधिक जीनेकी इच्छा धारण करना, तथा वैसा दीर्घजीवन होने योग्य अपना आचार व्यवहार करना' यहां इष्ट है। ऐसा करनेसे मनुष्यकी आयु बढती है। प्राचीन समयमें भगवान् श्रीकृष्ण, महाबली बलरामजीकी आयु १२५ वर्षोंकी थी, भीष्मपितामहकी आयु १७० वर्षोंकी थी, धर्म भीम अर्जुन आदि राज्य करके वनमें गये उस समय उनकी आयु १०० वर्षोंकी हो चुकी थी, दो हजार वर्ष पूर्व ग्रीक लोग भारतमें आये थे, उस समय १४० वर्षोंके मनुष्य मार्ग परसे अच्छी तरह भ्रमण कर रहे हैं ऐसा दृश्य उन्होंने भारतमें देखा था। अब इस समयमें भी १०० वर्षोंसे अधिक आयुवाले पुरुष दीखते हैं, इससे सिद्ध होता है कि 'शतं समाः जिजीविषेत्' सौ वर्ष जीनेकी इच्छा मनुष्य करे, यह बात तो मनुष्यके स्वाधीन की है। मनुष्य इच्छा करे तो उसकी आयु बढ सकती है, और चाहे तो उसका अन्त अकालमें भी हो सकता है। इसलिये इस मंत्रमें 'जिजीविषेत्' जीनेकी इच्छा करनी चाहिये ऐसा कहा है। जिजीविषामें प्रयत्न पूर्वक इच्छा रहती है। इसका यह अर्थ है कि मनुष्य प्रयत्नपूर्वक इच्छा करेगा, तो उसकी आयु बढेगी और उदास वृत्तीसे रहेगा, तो उसकी आयु घटती जायगी।

इतिहास दृष्टिसे भी यह सत्य दीखता है। अपने प्राचीन वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, रामायण, महाभारत तथा आयुर्वेदके ग्रन्थ प्रयत्नसे दीर्घायु प्राप्त करनेका उपदेश कह रहे हैं, इसलिये उस समयमें लोगोंकी आयु अतिदीर्घ थी। आयुर्वेदमें जीवनीय कल्प दिये हैं, वे आयु बढानेके लिये ही हैं। योग साधनसे भी आयु बढती है, योगायु ३०० वर्षोंकी मानी है। ज्योतिषशास्त्र तो सर्वसाधारण आयु १२० वर्षोंकी मानता है।

यह तो वैदिक वायुमंडलकी बात हुई। पर जिस समयसे बुद्ध संप्रदाय चला और उसका क्षणभंगुरवाद, दुःखमय वाद शुरू हुआ उस समयसे हमारी आयु घटने लगी। वह घटते घटते इस समय भारतकी औसद आयु २५ वर्षकी हुई है, जो वैदिक समयमें औसद आयु सौ वर्षकी थी। इतना अन्तर इस भ्रान्त विचार धारासे हुआ है।

मृत्युका पांव दूर हटाओ

मृत्योः पदं योपयन्तः यदैत
द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन
शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः। ऋग्वेद

'(मृत्योः पदं योपयन्तः) तुम्हारे सिरपर बैठा हुआ मृत्युका पांव दूर करो, (एत) आगे बढो, (द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः) तुम्हारी दीर्घ आयुको अधिक अतिदीर्घ बनाकर धारण करो, (प्रजया धनेन आप्यायमानाः) प्रजा और धनसे बडे वैभवको प्राप्त करते रहो और शुद्ध पवित्र और पूजनीय बनो।'

यह वेदकी आज्ञा कितनी स्पष्ट है? यह आज्ञा कितनी निश्चित है, देखिये। इसी जगत्में यह सब करना है। इसी आयुमें अपनी आंखसे यह देखना है।

अपनी आयु दीर्घ बनाओ

शुद्ध पवित्र और पूजनीय बनना, सन्तानों और धनोंसे युक्त होकर पर्याप्त वैभव प्राप्त करना, अपनी आयु अतिदीर्घ करके उसको धारण करना और मृत्युको दूर करना ये प्रशस्ततम कर्म मनुष्यको करने योग्य हैं। ये सर्व यहांके वैभवके लिये करनेके कर्म हैं। वेद कहता है कि, यहां स्वर्गसुख प्राप्त करने योग्य परिस्थिति अपने प्रयत्नसे निर्माण करनी चाहिये। इसीका नाम कर्म है और यही कर्म मनुष्यको दोष नहीं लगाता।

इस विवेचनका आशय यह है कि अपनी आयु दीर्घ करना अथवा छोटी करना मनुष्यके कर्मोंके आधीन है। इसलिये मनुष्य दक्षतासे प्रयत्न करे और दीर्घायु तथा उत्तम कर्मशक्ति अपने अन्दर प्राप्त करे और अपना विकास करे।

१ यहां दीर्घजीवन प्राप्त करना,
२ अपनी आयुभरमें सर्वजन हितकारी श्रेष्ठतम कर्म करते रहना,
३ यही एक मार्ग मनुष्यके लिये है, दूसरा नहीं ऐसा पक्का विश्वास रखना, और
४ ऐसे कर्मोंका दोष मनुष्यको नहीं लगता यह भी विश्वास रखना।

यह उपदेश यहां मिला। यह आत्मोद्धारका मार्ग है। अब आत्मघातकी लोगोंका बर्ताव कैसा होता है देखिये—

आत्मघातकी लोग

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृत्ताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
वा० य० ३

'असुर वृत्तीवाले गुण्डलोक अज्ञानान्धकारसे व्याप्त रहते हैं– जो आत्मघातकी लोग होते हैं वे मरणोत्तर भी (तथा जीतेजी भी) उनमें समाविष्ट होते हैं।' आत्मघातकी लोग कौनसे हैं? कि जिनका वर्णन इस मन्त्रमें किया गया है? पूर्व मन्त्रमें जिन सज्जनोंका वर्णन हुआ है, उसके विरुद्ध वर्णनवाले जो दुर्जन होते हैं, वे आत्मघातकी होते हैं। इसकी तालिका देखो—

आत्मोन्नतिकरनेवाले	आत्मघातकी
१ यहां श्रेष्ठ कर्म सर्वजनहितार्थ करनेवाले सत्पुरुष हैं।	१ कर्म न करना,दुष्ट कर्म करना, सर्वजनहितका घात करनेवाले कर्म करना, आलस्यमें रहना इ० ये आत्मघातकी हैं।
२ इस जगत्में श्रेष्ठ कर्म करना चाहिये ऐसा माननेवाले,	२ इस जीवनमें कर्म न करनेवाले, दुष्ट कर्म करनेवाले,
३ सौ वर्ष अथवा अधिक जीनेका प्रयत्न करनेवाले अर्थात् श्रेष्ठ कर्म करते हुए दीर्घजीवन प्राप्त करनेका यत्न करनेवाले।	३ जीवनको अशाश्वत, क्षणभंगुर, दुःखमय मानकर शरीरकी घृणा करनेवाले,
४ यही एकमात्र उद्धारका मार्ग है ऐसा माननेवाले,	४ मनुष्यके उद्धारके अनेक मार्ग हैं ऐसा माननेवाले, किसीपर भी दृढ विश्वास न रखनेवाले,
५ श्रेष्ठ सत्कर्म करनेसे कर्ताको दोष नहीं लगता ऐसा माननेवाले,	५ सब कर्म कर्ताको दोष लगाते हैं ऐसा मानकर कर्मकी निंदा करनेवाले,
ये आत्मोद्धारक हैं।	ये आत्मघातकी हैं।

इस तालिकासे स्पष्ट हो सकता है कि कौन आत्मघातकी हैं और कौन आत्मोन्नति करनेवाले हैं। जो आत्मघात करते हैं, उनके भी लक्षण संक्षेपसे यहां बताये गये हैं। वस्तुतः आत्मघातियोंके कुलक्षण अनेक हैं, उनकी गणना करना कठिन है। तथापि यहां संक्षेपसे उनका स्वरूप बताया है। आत्मोद्धारकोंके तो लक्षण थोडे ही हैं। आत्मघातकी लोगोंकी गणना जाते जो अथवा मरणोत्तर भी उन गुण्डोंमें होती है, जो राक्षसी वृत्तीवाले होते हैं। यह तो आत्मघातके दुष्कृत्य करनेका परिणाम है।

दुराचारी गुण्डोंका निवासस्थान पृथक् हो

राष्ट्रमें भी जो दुराचारी गुण्ड होते हैं, उनकी गणना पृथक् करनी चाहिये। वे सज्जनोंके स्थानमें न जा सकें और उनके श्रेष्ठ कर्ममें विघ्न न कर सकें, ऐसा प्रबंध शासन संस्थाके द्वारा होना चाहिये। आत्मघातकी असुर राक्षसोंका स्थान पृथक् हो और आत्मोद्धारक विबुधों वा दैवी संपत्तिवालोंका स्थान पृथक् होना चाहिये। शासकोंका निरीक्षण उन असुरोंपर सदा दक्षताके साथ रहना चाहिये, जिससे वे सज्जनोंको उपद्रव न दे सकें।

ग्राममें सज्जनोंका निवासस्थान एक स्थानपर रहे और राक्षसी गुण्ड लोगोंका स्थान पृथक् हो। राक्षसी वृत्तीवालोंपर रक्षकोंका निरीक्षण रहे। जिससे वे उपद्रव न मचा सकें। ऐसा उत्तम प्रबंध राष्ट्रमें हो।

दैवी संपत्तिवालोंका वर्णन भी इसी मन्त्रको देखनेसे किया जा सकता है। देखिये— "दैवी संपत्तिवाले विबुध उत्तम ज्ञान विज्ञानसे युक्त होते हैं। जो आत्मोन्नति करनेके लिये श्रेष्ठ कर्म करते रहते हैं, उनकी गणना उन दैवी संपत्तिवालोंमें होती है।" दैवी संपत्तिवाले और आसुरी संपत्तिवालोंका वर्णन विस्तारसे श्रीमद्भगवद्गीतामें किया है वह अब देखिये—

दैवी संपत्तिका वर्णन

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥ गी० १६

"(१) निर्भयता, (२) अन्तःकरणकी पवित्रता, (३) ज्ञान और योगमें विशेष उन्नतिकी अवस्था, (४) दान सत्पात्रमें देनेकी रुची, (५) संयम और इंद्रिय दमन करना, (६) यज्ञ अर्थात् सज्जनोंका सत्कार, मानवोंकी संघटना और निर्बलोंकी सहायता करनेके कर्म करना, (७) विद्याध्ययन करनेमें चित्त लगाना, (८) शीत उष्ण आदि द्वन्द्वोंको सहन करनेकी शक्ति प्राप्त करना, (९) व्यवहारकी सरलता, (१०) हिंसा न करना, (११) सत्यका पालन करना, (१२) क्रोध न करना, (१३) त्याग अर्थात् अपने सुखका सबके हित करनेके लिये अर्पण करना, (१४) शांति धारण करना, (१५) चुगली न करना, एककी गुप्त बात दूसरेसे कहकर दोनोंमें झगडा खडा करनेका यत्न न करना, (१६) प्राणियोंपर दया करना, (१७) लोभ न धारण करना, (१८) अन्तःकरणकी मृदुता, (१९) बुरा कर्म करनेकी लज्जा होनी- (२०) चंचलताका न होना, (२१) तेजस्विता, (२२) क्षमाशील होना, (२३) धैर्य, (२४) पवित्रता, (२५) द्रोह किसीके साथ न करना, (२६) अत्यंत मानी न बनना, अत्यंत घमंड न करना, ये दैवीसंपत्तिवालोंमें रहनेवाले गुण हैं। जो नर सत्कर्म करते हुए सौ वर्षकी दीर्घायु प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं और अपना जीवन नर श्रेणीका बनाते हैं, उनके ये लक्षण हैं। अब असुर स्वभाववालोंके लक्षण देखिये—

आसुरी प्रवृत्तीका वर्णन

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥
दैवीसंपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ॥ ५ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थ संचयान् ॥ १२ ॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया!
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

गी० १६

१ दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान ये दुर्गुण आसुरी प्रवृत्तीसे उत्पन्न हुए मनुष्यमें जन्मतः होते हैं। (४)

२ दैवीसंपत्तिसे बंधनसे मुक्ति हो जाती है और आसुरी प्रवृत्तीसे बंधनका दुःख प्राप्त हो जाता है। (५)

३ आसुरी लोग प्रवृत्ति क्या है और निवृत्ति किसे कहते हैं यह जान नहीं सकते। किस शुभकर्ममें मनुष्यकी प्रवृत्ति होनी चाहिये और किस तरहसे अशुभ कर्मसे हमें निवृत्त होना चाहिये यह विवेक आसुरी लोगोंमें नहीं होता है। (७)

४ पवित्रता, सदाचार, सत्य आसुरी प्रवृत्तिके लोगोंमें नहीं होता है। (७)

५ यह जगत् असत्य है, निराधार है, और इसका कोई नियामक नहीं है। यह जगत् अनित्य, क्षणभंगुर, आधार-रहित और शासक रहित है ऐसा असुरोंका मत है। (८)

६ यहां परस्पर किसीका किसीसे कोई संबंध नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र और पृथक् है। इस जगत्का उद्देश विषय भोग भोगनेके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है।(८)

७ इस तरहकी दृष्टिका स्वीकार करनेवाले, नष्ट दुष्ट स्वभाववाले अल्पबुद्धी लोग बडे बडे उग्र कर्म करते हैं और जगत्के नाशके लिये तथा सबका अहित करनेके लिये ही प्रवृत्त होते हैं। (९)

८ कभी तृप्त न होनेवाली वासनाओंको धारण करनेवाले, मोहसे अनेक दुष्ट इच्छा धारण करनेवाले दम्भी, मानी और मदान्ध असुरलोग, अपवित्र कर्मोंको करते हुए सदा असत्कर्ममें ही प्रवृत्त होते हैं। (१०)

९ कल्पान्ततक टिकनेवाली अपरिमित चिन्ताको धारण करनेवाले ये असुर लोग कामभोगको ही सर्वस्व मानते हैं और यही सब कुछ है, इससे भिन्न कुछ भी नहीं है, ऐसा उनका आग्रह रहता है। (११)

१० सैकडों आशापाशोंसे बंधे हुए कामी और क्रोधी ये असुर लोग अपने उपभोगके लिये अन्यायसे बहुतसा धन संचय ये करते हैं। (१२)

११ आज मैंने यह धन प्राप्त किया है, यह मनोरथ मैं कल प्राप्त करूंगा, आज मेरे पास इतना धन है, कल इतना धन मेरे पास होगा। (१३)

१२ इस शत्रुका नाश मैंने आज किया है, अन्य शत्रुओंका नाश मैं कल करूंगा। (१४)

१३ मैं इस धनका स्वामी हूं, मैं भोगी हूं, मैं सिद्ध हूं और मैं बलवान् हूं, तथा मैं सुखी हूं। (१४)

१४ मैं धनपति हूं, मैं कुलीन तथा उत्तम परिवार संपन्न हूं, मेरे जैसा इस जगत्में कौन दूसरा है? (१५)

१५ मैं यज्ञ करूंगा, मैं दान दूंगा, मैं आनंद भोगूंगा, इस तरह वे असुर अज्ञानमें मोहित होकर घमंड मारते रहते हैं। (१६)

१६ अनेक प्रकारसे भ्रान्तचित्त बने हुए, अनेक मोहपाशोंसे बंधे हुए, कामभोगोंके पीछे पडे हुए अपवित्र नरकमें ये असुर गिरते हैं। (१६)

१७ अपने आपको बडे संभावित तथा प्रतिष्ठायुक्त माननेवाले, धन मान और घमण्डसे युक्त ये असुर लोग दम्भसे विधिहीन यज्ञोंको करते हैं। (१७)

१८ अहंकार, बल, घमंड, काम और क्रोधका आश्रय करके अपने और दूसरोंके देहोंमें रहनेवाले आत्माका द्वेष करते हैं। और सदा दूसरोंकी निंदा करते रहते हैं।(१८)

यह आसुरी प्रवृत्तीवालोंका वर्णन है। इससे पता लग सकता है कि, जगत्में ये असुर लोग कौनसे हैं और सुर-लोग कौन हैं। यहां यह वर्णन विस्तारसे किया है, इस लिये इस वर्णनको देखकर मनुष्य असुर लोगोंको पहचाने और विबुधोंको भी पहचाने बिना इसकी परीक्षा किये इस जगत्का व्यवहार करना ही असंभवसा हो जायगा। मनुष्य रूपसे ये असुर राक्षस और दानव इस जगत्में घूम रहे हैं। ऊपरसे उनका पोशाख अच्छा रहता है, परंतु अन्दरसे उनके कर्तृत असुरोंके होते रहते हैं। वे भयानक होते हैं, इसलिये इनसे बचना चाहिये। वेद मन्त्रमें भी जो 'अ सूर्य-लोक' कहे हैं वे राक्षसी वृत्तीवाले गुण्ड ही हैं। जो शारीरिक बलसे बडे मोटे ताजे होते हैं, हृष्ट पुष्ट होते हैं, किसी जातका कुकर्म करना उनके लिये सहज होता है। वे क्रूर और दुष्ट होते हैं।

गुण्डोंसे अपना बचाव करो

असुरोंसे अपने आपका बचाव करना और विबुधोंकी संघटना करके उनका बल बढाना यही यहां करने योग्य कार्य है।

दीर्घ आयुकी आवश्यकता

इस मन्त्रमें सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करनेको कहा है। मानवी जीवनमें दीर्घायु अत्यंत आवश्यक है। बिना आयुके बाकी सब पदार्थ निकम्मे हो जाते हैं। देखिये मनुष्य धन धान्य संपन्न है, घरमें पुत्र पौत्र स्त्री सेवक रथ घोडे गौवें आदि सब ऐश्वर्य है, स्वयं ज्ञानी है, विज्ञानसंपन्न है, अधिकार भी बडा है और मरने लगा है अर्थात् दीर्घजीवन नहीं है, तो वैसी अवस्थामें उसके उस ऐश्वर्यका उसके लिये क्या उपयोग हो सकता है? सब ऐश्वर्योंका उपयोग दीर्घ तथा रोगरहित आयु रही तो ही हो सकता है। आयु तो १२५ वर्षोंकी है, पर सदा चारपायीपर बीमार रहता है, दवा खाते खाते तंग आया है। ऐसे दीर्घ बीमार चाहते हैं कि एकबार मृत्यु आ जाय तो अच्छा है!! दीर्घकालीन बीमार मृत्युको निमंत्रण देते हैं। इसलिये नीरोग तथा बल-युक्त दीर्घआयु चाहिये। इसलिये वेदने कहा है कि "अदीनाः स्याम शरदः शतं' हम सौ वर्षोंतक दीन न होते हुए आनन्द प्रसन्न हृष्ट पुष्ट तथा बलवीर्य संपन्न रहें। यह शुभ इच्छा है। सौ वर्षकी पूर्ण आयु तो चाहिये परंतु साथ साथ नीरोग बलवीर्य संपन्नता भी आवश्यक है।

आयुके आश्रयसे कर्म

आयुके आश्रयसे ही सब भोग भोगे जाते और सब कर्म किये जाते हैं। यद्यपि मंत्रके प्रारंभमें--

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'

'कर्मोंको करते हुए' ऐसा कहा है और पश्चात्—

'जिजीविषेत् शतं समाः'

अर्थात् 'सौ वर्ष जीनेकी इच्छा धारण करो' ऐसा कहा है, तथापि सौ वर्ष जीनेकी इच्छा प्रथम मनमें धारण करनी चाहिये और पश्चात् प्रशस्ततम कर्म करते रहना चाहिये। क्योंकि बिना आयुके श्रेष्ठ कर्म किये ही नहीं जायगे। सौवे वर्षमें भी कर्म करनेकी शक्ति अक्षुण्ण रहनी चाहिये। यहांके सौ वर्ष आयुके १२० वर्ष होते हैं अर्थात् १२० वे वर्ष अपनी कर्मशक्ति उत्साहमयी रहनी चाहिये। शक्तिकी क्षीणता १२० वे वर्ष भी नहीं होना चाहिये। देखिये वैदिकधर्मने मनुष्यपर कितना कर्तव्यका भार रखा है। प्रथम वह १२० वर्षकी दीर्घआयु प्राप्त करनेका यत्न करे और अन्तिम वर्षमें भी उसकी शक्ति क्षीण न हो। इतना प्रयत्न करनेका भार मनुष्यपर वेदने रखा है। तरुण जैसा उत्साह १२० वे वर्ष रहना चाहिये, यह इसका आशय है। इतना निश्चयपूर्वक प्रयत्न करना चाहिये और इसमें प्रमाद होने नहीं देना चाहिये।

केवल दीर्घायुष्य मनुष्यकी शोभा नहीं बढा सकता, वह तो एक उपहासका विषय बनेगा। यदि कोई मनुष्य दीर्घायु है, परंतु ज्ञानहीन, कर्म करनेमें असमर्थ, निर्धन है, तो उसकी दीर्घ आयु उपहास करनेके लिये योग्य समझी जायगी। इसलिये केवल दीर्घ आयु कामकी नहीं है। इसीलिये मंत्रमें प्रथम कर्म करते हुए, दीर्घायु की इच्छा करो, ऐसा कहा है। इससे मंत्रके विधान-का पूर्वापर संबंध कितना महत्त्वपूर्ण है, इसका पता लग जायगा। प्रथम मनुष्यको प्रशस्त कर्म कुशलतापूर्वक करनेकी शक्ति प्राप्त करनी चाहिये, इसके लिये ज्ञान विज्ञान संपन्नता जितनी चाहिये, उतनी अवश्य प्राप्त करनी

चाहिये। और ऐसे कर्ममें कुशल पुरुष अपनी दीर्घ आयु हो ऐसी इच्छा करें और उसके लिये आवश्यक तो प्रयत्न भी करें और दीर्घआयु अपने प्रयत्नसे प्राप्त करें।

कुविचार दूर करो

क्षणभंगुर संसार, नश्वर जगत्, अशाश्वत विश्व दो दिनकी दुनिया आदि अवैदिक विचार स्थायी रूपसे दूर फेंकने चाहिये। ऐसे कुविचारोंको अपने पास आने नहीं देना चाहिये। ये दुष्ट विचार, ये कुविचार यदि अपने मनमें रहे, तो वे वहां स्थायी नश्वरताका कुसंस्कार निर्माण करेंगे। जिसके कारण शरीरमें वैसा ही नश्वरताका दुष्परिणाम होगा। और दीर्घायु प्राप्त होना असंभव हो जायगा।

देखिये यदि कोई मनुष्य इस जगत्को क्षणभंगुर अशाश्वत और दुःखमय मानता है, तब तो वह इसी जगतमें अपने लिये क्यों कर दीर्घायु प्राप्त करना चाहेगा। यह जगत् दुःखमय होनेसे वह इसको छोडना ही चाहेगा। इसीलिये क्षणभंगुरवादियोंने कहा है कि, जगत्का त्याग किये विना ईश्वरकी प्राप्ति नहीं, जगतके त्याग किये विना सुख नहीं है।

पर वैदिकधर्मी तो विश्वको परमेश्वरका स्वरूप मानता है। इसलिये विश्वको वह छोडना नहीं चाहता। परमेश्वरको कौन मूर्ख छोड देगा? विश्वरूप परमेश्वर है और वह वैदिक धर्मीको संसेव्य है। इसलिये अति दीर्घजीवन प्राप्त करके वह विश्वरूप ईश्वरको प्रसन्न करनेका यत्न करेगा। इसी कार्यके लिये इसको दीर्घ आयुष्य और विशेष कर्मशक्ति चाहिये। कर्मोंको करते हुए यह सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करेगा। इसका कारण यह है।

हम सर्वजन हितकारी श्रेष्ठतम कर्म करेंगे और सौ वर्षोंकी पूर्ण आयु प्राप्त करेंगे।

कर्मका संन्यास

यहां कई पाठक ऐसी शंका करेंगे कि मनुष्यको कर्म करने चाहिये ऐसा जो यहां वारंवार कहा जाता है, यदि यह सत्य माना जाय तो कर्मसंन्यासके लिये कहां अवकाश होगा? इस शंकाके उत्तरमें निवेदन यह है कि संन्यासमें कर्मका अभाव होता है यह सत्य नहीं है। संन्यासमें भी बडे कर्म किये जाते हैं। श्री मच्छंकराचार्य जो स्वयं कर्म त्यागके प्रतिपादक थे उन्होंने भारतवर्षमें भ्रमण करके चारों दिशाओंमें अपने मठ स्थापन किये, अधर्मका तथा पाखंडका खंडन किया और धर्मकी स्थापना की। इस तरह अनेकानेक संन्यासी हुए हैं कि जिन्होंने जनतामें धर्म संस्थापनार्थ बडे बडे कर्म किये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वजन हितके लिये आवश्यक कर्म करनेका निषेध संन्यासमें नहीं है।

संन्यासमें व्यक्ति और कुटुंबका संबंध छूट जाता है और संपूर्ण मानवताके हितके लिये प्रचंड कार्य करनेका बडा कार्यक्षेत्र खुला होता है। इसलिये यह कोई न समझे कि संन्यासमें कर्म त्याग है। मनुष्य जबतक जीवित रहता है, तबतक उसको कर्म छोडना असंभव है। यह सिद्धान्त रूपसे प्रथम समझना चाहिये। इसीलिये कहा है कि–

यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे। अथर्व ४।२४।६

'जो आत्मा प्रथमतः यहां कर्म करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है।' यहां जन्म लेनेका हेतु कर्म करना ही है। इस लिये वेद द्वारा घोषणा की गई है कि–

कर्म कृण्वन्तु मानुषाः। अथर्व ६।२३।३

'मनुष्य यहां जन्म लेकर कर्म करें।' कर्म करनाही मनुष्यके लिये योग्य है। शरीर भी मनुष्यको ऐसा मिला है कि जो सदा कर्म करता ही रहेगा। प्रत्येक इन्द्रियसे कर्म होता ही रहेगा। इसलिये जहां पांच कर्मेंद्रिय और पांच ज्ञान इंद्रिय कर्म करते ही रहेंगे, तो मनुष्यका कर्म न करना संभव किस तरह हो सकेगा? इसलिये गीतामें कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वं एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
गी० ३।१०

'प्रजापति परमेश्वरने यज्ञ कर्मके साथ प्रजाजनोंको उत्पन्न किया और उनको उपदेश दिया कि, यही यज्ञ कर्म तुम्हारे लिये सुख देनेवाला और तुम्हारी उन्नति करनेवाला है।' इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म तो मनुष्यके साथ उत्पन्न हुआ है वह इससे पृथक् नहीं हो सकता है। इसलिये यज्ञ कर्मका त्याग संभव नहीं है।

इसलिये वैदिक धर्म यज्ञका धर्म है, कर्म करनेका धर्म है। इस कर्मके विषयमें और कर्मका त्याग करके सुखी होनेके विषयमें बडे भ्रम फैले हैं, उन सब भ्रमोंको पाठक अपने मनसे दूर फेंक दें और परम पुरुषार्थ जीवनभर करनेकी अभिलाषा मनमें धारण करें। यज्ञ कर्म अपने जीवनका धर्म है यह कदापि न भूलें। इसलिये कहा है—

स्वे शरीरे यज्ञं परिवर्तयामि। प्राणाग्नि उ० २
शरीरं यज्ञः। महा ना० उ० २०।१२
वाग्वै यज्ञस्य होता। चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युः।
प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता। मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा।
बृ० उ० ३।१।१-६

'अपने शरीरमें यज्ञको परिवर्तित करना चाहिये। यह शरीर यज्ञमय है। यहां इस शरीरके यज्ञमें वाक्, चक्षु, प्राण और मन ये क्रमसे होता अध्वर्यु उद्गाता और ब्रह्मा है।' इस तरह यह शरीर यज्ञमय होना चाहिये।

इससे कोई यह न समझे कि प्रत्येक मनुष्यका शरीर यज्ञरूप हो चुका है। नहीं। प्रत्येक मनुष्यको अपना शरीर यज्ञरूप करनेका प्रयत्न करना चाहिये। यहां ये वाणी, नेत्र, प्राण और मन यदि यज्ञरूप न बने, तो ये ही राक्षस बनेंगे और ये ही अनर्थ मचायेंगे। इसलिये इनके कारण अपना ही नाश न हो इसलिये इनको परिशुद्ध करके इनसे यज्ञ हो, ऐसी परिस्थिति निर्माण करनी चाहिये। स्वभावसे इनकी प्रवृत्ति शुभ हो अशुभ न हो। ऐसा जब होगा, तब इस शरीरसे होनेवाला कर्म यज्ञरूप होगा। यह प्रयत्न मनुष्यको करना चाहिये। इस उद्देश्यसे कहा है-

अध्वरो वै यज्ञः। श. ब्रा० १।२।४।५
यज्ञो वै भुज्युः। यजु० १८।४२
यज्ञो भगः। य० ११।७
यज्ञो वै महिमा। य० ११।६
यज्ञो वै सुम्नम्। य० १२।६७
यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। य. १।१
यज्ञो वै विशः, यज्ञे हि सर्वाणि भूतानि विष्टानि।
श० ब्रा० ८।७।३

ब्रह्म हि यज्ञः। श० ब्रा० ३।१।४।१५
यज्ञो वै भुवनज्येष्ठः। कौ० ब्रा० २५।११
यज्ञो वा अवति। तां० ब्रा० ६।४।५
भैषज्ययज्ञा वा एते। तस्मादृतुसंधिषु प्रयुज्यन्ते।
ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते। गो० ब्रा० १।१९

'यज्ञका कर्म हिंसारहित होता है।' किसीकी हिंसा किसीको कष्ट इससे नहीं होते। 'यज्ञ सबको अन्न देता है।' इससे सबका पालन पोषण होता है। इस तरह यज्ञ सबका पालन करनेवाला है। अन्न उत्पन्न करना भी एक यज्ञ है। 'यज्ञ भाग्य बढानेवाला है।' ऐश्वर्य देनेवाला, धन बढानेवाला यज्ञ है। यज्ञसे मनुष्योंकी संगठना होती है और मनुष्योंके भाग्यकी वृद्धि होती है। 'यज्ञ मनुष्योंकी महिमा बढाता है' इस कारण यज्ञकर्ताकी स्तुति सब लोग करते हैं। उसका संमान करते हैं। 'यज्ञ ही सुख है।' यज्ञ करनेसे सबको सुख मिलता है। यज्ञसे मानव संघटित होते हैं, सुरक्षित होते हैं और सुखी होते हैं। इसलिये कहा है कि, 'यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है।' मनुष्यको इसीलिये उत्तमोत्तम कर्म करने चाहिये।

'प्रजाजन ही यज्ञ है क्योंकि यज्ञसे ही सब प्रजा सुखसे रहती है।' यदि प्रजामें यज्ञ भाव न रहा, तो वह प्रजा बिखरी होती है और उस बिखरे भावके कारण प्रजाका नाश ही होता है। इसलिये कहते हैं प्रजाका अस्तित्व ही यज्ञपर अवलंबित है। 'यज्ञ बडी शक्ति है, यज्ञ ज्ञान ही है।' जिसके पास ज्ञान होता है वहां ही शक्ति रहती है। ज्ञान ही शक्ति है। ज्ञान ही यज्ञ है अर्थात् यज्ञसे शक्ति बढ जाती है।

'यज्ञ सब भुवनोंमें श्रेष्ठ कर्म है।' जो सर्वजन हितकारी श्रेष्ठकर्म होगा वह यज्ञ है। 'यज्ञ संरक्षणका कार्य है।' संरक्षणसे सब प्रकारकी प्रगति हो सकती है। इसलिये संरक्षण भी एक बडा यज्ञ है। 'ऋतुके संधिकालमें व्याधियां होती हैं इसलिये उस समय उन रोगोंको दूर करनेके हेतुसे औषधियोंके हवनसे यज्ञ किये जाते हैं।'

पाठक यहां इन वचनोंमें देखेंगे तो उनको पता लगेगा कि व्यक्तिके अन्दरका ज्ञान बढानेसे लेकर मानव समाजकी

संघटना और उनके सुख बढानेके सब कार्य इस यज्ञकर्ममें समाविष्ट हो गये हैं।

इसलिये यज्ञ कर्म मानवोंका हित करनेका कार्य है। मनुष्यको सुख और आनंद चाहिये, नीरोगिता आरोग्य और दीर्घजीवन चाहिये, अन्न धन ऐश्वर्य और भाग्य चाहिये, संरक्षण और अभ्युदय चाहिये। ये सब कर्म करनेसे ही होनेवाले हैं। मनुष्य योग्य कर्म करे और अपना अभ्युदय सिद्ध करे।

कर्मसु चामृतम्।

कर्ममें अमृत है। जो अमृत चाहते हैं वे कर्म करें। श्रेष्ठतम कर्म करनेका ऐसा महत्त्व है। इसलिये मनुष्य जीवन रहनेतक श्रेष्ठकर्म करता रहे, दीर्घ जीवन प्राप्त करे, आनन्दसे रहे। यही वैदिक धर्मका ध्येय, अखिल मानवजातिका परमकल्याण, कर्मयोगसे ही साध्य होनेवाला है।

प्रश्न

१ मनुष्य जीवनका उद्देश्य क्या है ?
२ देवताके वर्णनमें मनुष्यके लिये किस तरह आदर्शकी प्राप्ति होती है ?
३ 'आत्मा' पदका क्या अर्थ है और वह क्या बताता है ?
४ 'क्रतु और शतक्रतु' कौन है ?
५ कर्मका तत्त्व क्या है ?
६ वेदमें बुद्धि और कर्मवाचक एक ही 'धी' पद क्यों आया है ?
७ कृतयुग किस तरह निर्माण किया जा सकता है ?
८ कर्म किस तरह करना चाहिये ? कर्मयोगमें 'योग' पदका अर्थ क्या है ?
९ श्रेष्ठतम कर्मकी व्याख्या कैसी होती है ?
१० कर्म, अकर्म और विकर्मका स्वरूप क्या है ?
११ प्रशस्ततम कर्म किस कर्मको कहते हैं ?
१२ सौ वर्षकी आयु कहांसे कहांतक होती है ?
१३ जीवन गणमें किनका समावेश होता है ?
१४ मनके निश्चयका महत्त्व क्या है ?
१५ नरको कर्मका दोष नहीं लगता इसका कारण क्या है ?
१६ जन, लोक, मनुष्य और नरके लक्षण क्या हैं ?
१७ कर्म त्याग क्यों असंभव है ?
१८ मृत्युको दूर किस तरह हम कर सकते हैं ?
१९ आत्मघातकी कौन है ? आत्मोद्धारक कौन है ?
२० गुण्डोंके लिये कहां स्थान हो ?
२१ दैवी और आसुरीवृत्तीके लक्षण कौनसे हैं ?
२२ दीर्घ आयु क्यों चाहिये ?
२३ आयुके आश्रयसे क्या किया जाता है ?
२४ कुविचार क्यों दूर करने चाहिये और सुविचार क्यों मनमें स्थिर करने चाहिये ?
२५ कर्म संन्यास होनेकी संभावना है वा नहीं ?
२६ यज्ञके लक्षण क्या हैं ?
२७ कर्ममें अमृत किस तरह रहता है ?
२८ मनुष्यकी आयु कितनी होती है ?
२९ मनुष्य जीनेकी इच्छा किस समय कर सकता है ?
३० यज्ञसे सब प्राणी किस तरह सुखसे रह सकते हैं ?